THE ECONOMIC TIMES

Date: 16-06-18

More than just a sporting chance

Desh Gaurav Sekhri

The tipping point for sports in India to attain sustainable levels of high participation, consistent success and imbibing sport as a culture may just be around the corner. Just two months shy of the Jakarta Palembang Asian Games, and two years away from the Tokyo Olympics in July 2020, there is an increasing feeling that time is of the essence for a material move towards becoming a 'sporting nation'.

Sports minister Rajyavardhan Singh Rathore is a decorated Olympic silver medallist and forward-thinking in his approach to the vision and longterm strategy of sports and fitness in India. There is an established contribution by the private sector initiatives that have successfully formulated excellence modules for elite sportspersons such as the Olympic Gold Quest, the Go Sports Foundation and JSW Sports. These are bringing best practices for training and financial support for future success.

The private for-profit sector is also transacting more frequently, as quantifiable rights become more streamlined in India now. The sports ministry and the Sports Authority of India (SAI) are proactively engaged towards a potential move to develop and establish a sports and fitness culture. The real optimism comes from a wider diaspora of medal contenders, both in numbers and in disciplines, reflecting youth as well as experience. Indian sportspersons by design, rather than by coincidence, are now contenders, if not favourites, in sports like archery, badminton, boxing, gymnastics, shooting, tennis, table tennis, track and field, and wrestling. The broaderbased success in various sports is vital. It shows that there is a systemic change, not just one led by a solitary success or fad.

Like cricket, kabaddi has been monetised, apparent from the IPL-like contracts offered last month to elite players in the Pro Kabaddi League (PKL). Football, too, continues to gain popularity, exposure and eventually commercial viability. Other sports should soon follow. Participation levels in Indiafor sports activities are like never before, as is awareness of how big an impact sport has on quality of life indices. From a policy standpoint, the focus on sport is part of a wider integration network through the National Nutrition Mission, emphasis on health and fitness, and the creating of a culture of activity and sports. Sports ministryled initiatives like Khelo India, and Rathore's #HumFitTohIndiaFit social media challenge, which saw the prime minister also join earlier this week, are successfully broadening awareness and engagement.

There is a visible boost to credibility, dissemination and comfort with reformin sport. Concurrently, SAI has the intent, aptitude and infrastructure. Contrary to popular belief, the legacy stadiums are being used, and for the most part are adequately maintained. Under the 'Come and Play' scheme, an estimated 15,000 residents of Delhi-NCR have subscribed across the five SAI stadiums at extremely affordable monthly charge — a fair starting point from which to expand.

A revamping of the Target Olympic Podium Scheme (TOPS) and a longterm vision of succeeding in Olympics from 2028 and beyond is part of the work towards sustainable growth and ahigh-performance

model. The role of the private sector is multi-pronged and already in place to a large extent in scope but not yet in scale. Expanding human capital and capability, supporting potential elite athletes, investing through transactions that are purely commercial or strategic, and also into growth in participation are key contribution areas. These will be further enhanced through more cohesive work with both state and central governments.

With the leadership and planning, work has begun on initiatives that can optimise the use of legacy infrastructure for universal access. Winning, rather than contending, is the mindset of this generation of Indian sportspersons. We are not a sporting nation today. But all the ingredients to get to that point are within our grasp. If ever there was a time for the five hooks of sports engagement — excellence, participation, investment, human capital, and a vision — to come together and transform the sports ecosystem in India, that time is now.

जनसत्ता

Date: 15-06-18

अफवाह की आग

संपादकीय

पिछले कुछ समय से लगातार ऐसी घटनाएं सामने आ रही हैं जिनमें किसी अफवाह की जद में आकर लोगों की भीड़ जमा हो जाती है और सिर्फ शक के आधार पर अनजान व्यक्ति को पीट-पीट कर मार डालती है। बुधवार को एक बार फिर महाराष्ट्र और झारखंड में सिर्फ शक के आधार पर भीड़ ने चार लोगों को पीट-पीट कर मार डाला। महाराष्ट्र के औरंगाबाद में जहां लुटेरे होने की अफवाह में भीड़ ने दो लोगों की हत्या कर दी, वहीं झारखंड के गोड्डा में पशु चुराने के संदेह में दो लोगों को इसी तरह मार डाला। हाल ही में असम में बच्चा चुराने की अफवाह फैला कर ऐसा माहौल बनाया गया कि लोगों ने दो युवकों की बर्बरता से पिटाई की और मार डाला। कुछ समय पहले बंगलुरु और हैदराबाद से भी बच्चा चुराने की अफवाह में आकर लोगों के मारे जाने की ऐसी ही घटनाएं सामने आई थीं। हैरानी की बात है कि जब सच्चाई का पता चलता है कि ऐसी हत्या अफवाह का नतीजा थी, उसकेबावजूद लोग किसी खबर पर शक करने और अपने स्तर से सोचने की जरूरत नहीं समझते हैं।

विडंबना यह है कि एक जागरूक समाज बनाने के दावे के तहत जिस डिजिटल इंडिया के नारे को जोर-शोर से बढ़ावा दिया गया, आज वह बहुत सारे लोगों को ऐसी भीड़ में तब्दील कर रहा है जो किसी खबर पर सोचने और उसके सही या गलत होने का अंदाजा लगा पाने में सक्षम नहीं है। यह बेवजह नहीं है कि आज इस तरह की अफवाहों को तेजी से फैलाने के लिए वाट्स ऐप या सोशल मीडिया के दूसरे मंचों को हथियार के तौर पर इस्तेमाल में लाया जाने लगा है। भीड़ के हाथों किसी के मारे जाने की ज्यादातर घटनाओं में यही तथ्य सामने आया है कि वाट्स ऐप या सोशल मीडिया पर किसी झूठी खबर, तस्वीर या वीडियो को सच बता कर बहुत सारे लोगों के मोबाइल पर भेज दिया गया। फिर जिन लोगों

के पास ये झूठे संदेश पहुंचे, उन्होंने कुछ भी सोचना-समझना जरूरी नहीं समझा और एक जगह जमा होकर हिंसक भीड़ में तब्दील हो गए और किसी निर्दोष को मार डाला। बाद में पुलिस भले सक्रिय होती हो, कुछ आरोपी गिरफ्तार किए जाते हों, लेकिन ऐसी अफवाह फैलाने वाले शायद ही कभी पकड़ में आए हों। इसीलिए यह शक भी होता है कि क्या इस तरह की अफवाहों के पीछे कोई संगठित गिरोह भी है!

दरअसल, वाट्स ऐप या सोशल मीडिया पर कई बार ऐसे संदेश जारी कर दिए जाते हैं, जिन्हें देख कर साफ पता चलता है कि उन्हें सोच-समझ कर तैयार किया गया है। ये संदेश किसी खास सामाजिक-राजनीतिक मुद्दे पर राय बनाने की कोशिश भी हो सकते हैं। लेकिन कई संदेश, फोटो या वीडियो ऐसे भी होते हैं, जिनका मकसद लोगों के बीच उन्माद फैलाना होता है। अफवाहों के असर में आया व्यक्ति यह भी याद रखने की स्थिति में नहीं रह जाता कि अगर किसी व्यक्ति ने कोई गैरकानूनी काम किया है तो उस पर कार्रवाई करने के लिए पुलिस या प्रशासनिक तंत्र मौजूद है। भीड़ का यह चरित्र कोई नया नहीं है, लेकिन बेहद चिंताजनक है। भीड़ में तब्दील हो गए व्यक्ति के पास सही-गलत में फर्क करने या सोचने-समझने की ताकत नहीं रह जाती है। अगर इस प्रवृत्ति पर लगाम लगाने के मकसद से सरकार की ओर से सामाजिक जागरूकता अभियान चलाने के साथ-साथ कानूनी स्तर पर सख्त कदम नहीं उठाए गए तो लंबे समय में इसके नतीजे भयावह रूप में सामने आ सकते हैं।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 15-06-18

गरम क्यों होता जा रहा है भारत

कृष्णा अच्युत राव प्रोफेसर आईआईटी, दिल्ली

जिस वक्त मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं, रात के 10.30 बज चुके हैं और इस वक्त भी कमरे से बाहर दिल्ली का तापमान 38 डिग्री सेल्सियस है। मानसून की ठंडी फुहार गिरने से पहले यह कई मायनों में एक अजीब गरम रात है। भारतीय मौसम विज्ञान विभाग (आईएमडी) बता रहा है कि ऐसी ही तेज गरमी अभी कुछ दिन और झेलनी होगी। जिन लोगों ने बीते कुछ दशकों को देखा-महसूस किया है, वे जानते होंगे कि हमारे बचपन में स्थितियां बिल्कुल अलग थीं। तब रातें आज की तरह असहनीय नहीं हुआ करतीं, खासकर जब हम आंगन में चारपाई पर सोते थे या खुले आकाश के नीचे छत पर। मगर अब हालात बदल गए हैं। आखिर क्यों?

ये बदलाव दुनिया भर में हो रहे हैं। मौसम नए मिजाज में हमारे सामने आने लगा है। मौसम और जलवायु में हो रहे इन्हीं बदलावों की वजह हम आईआईटी, दिल्ली के सेंटर फॉर ऐटमस्फेरिक साइंसेस (वायुमंडलीय विज्ञान केंद्र) में ढूंढ़ते हैं। यहां हमने साल 1906 से 2005 यानी 100 वर्षों में भारत में आए मौसमी बदलाव का अध्ययन किया और यह समझने का प्रयास किया कि आखिर इस तरह के परिवर्तन क्यों हुए? हमारे निष्कर्षों की चर्चा बाद में, पहले यह समझना जरूरी है कि हमारा जलवायु किस तरह बदल सकता है? तापमान और वर्षा साल-दर-साल स्वाभाविक रूप से बदल सकते हैं। भारत ने ऐसे वर्ष भी देखे हैं, जब काफी ज्यादा बारिश हुई और ऐसे भी, जब बिल्कुल सूखा रहा। हमने गरम और मध्यम

वर्षों का भी अनुभव किया है। इनमें से कुछ सूर्य के विकिरण में हुए बदलाव की वजह से होते हैं, तो कुछ का कारण सुदूर ज्वालामुखी में होने वाला विस्फोट है। कुछ जगहों पर, इस तरह के बदलाव बड़े पैमाने पर हो सकते हैं और हमें बुरी तरह प्रभावित कर सकते हैं। मगर जैसे ही इंसानों ने कोयला जैसे जीवाश्म ईंधन, तेल और प्राकृतिक गैस का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल शुरू किया, हवा में कार्बन डाई-ऑक्साइड की सघनता बढ़ गई। हवा में इस गैस ने एक कंबल का काम किया है, जिससे गरमी वातावरण से बाहर नहीं निकल रही और तापमान बढ़ रहा है।

कार्बन डाई-ऑक्साइड, मीथेन, नाइट्रस ऑक्साइड व ओजोन जैसी गैसों का गुण ही ऐसा है कि वे हमारी आबोहवा को खतरनाक बना देती हैं। इन्हें ही हम ग्रीनहाउस गैस कहते हैं। इसके अलावा, जीवाश्म ईंधन के जलने और दूसरी तमाम गतिविधियों की वजह से 'एरोसोल' (हवा में ठोस व तरल कणों का बादल) भी बनता है। ये इतने महीन कण होते हैं कि सूरज की रोशनी को धरती तक पहुंचने से रोक सकते हैं और गरमी कम कर सकते हैं। सरल अर्थों में देखें, तो ये हमारे लिए सुखद स्थिति बनाते हैं, पर असलियत में ये लोगों की सेहत और तंदुरुस्ती को बुरी तरह प्रभावित कर सकते हैं। मानव-गतिविधियों का एक अन्य पहलू जंगलों का कटते जाना भी है। हम खेती-बाड़ी और शहरों की बसावट के लिए वन-क्षेत्रों को लीलते रहे हैं। इसने भी गरमी सोखने के जमीन के व्यवहार को बदला है। इन्हें हम 'एंथ्रोपोजेनिक' यानी मानव गतिविधियों का नतीजा कहते हैं। धरती इस तेज गरमी से किस तरह निपटेगी, यह इस पर निर्भर करेगा कि पूरी दुनिया बढ़ते तापमान को किस तरह थामती है। मगर सवाल यह है कि क्या भारत के भीतर, स्थानीय स्तर पर भी यही गणित काम करेगा?

मेरे साथ शोधकर्ता दिलीप कुमार और अरुलालन ने पिछले 100 वर्षों के तापमान डाटा का विश्लेषण करके उन बदलावों का ही पता लगाने का प्रयास किया, जो प्राकृतिक रूप से, ग्रीनहाउस गैसों के बढ़ने और अन्य कारकों की वजह से हुए। हाल ही में इसके निष्कर्ष नेचर साइंटिफिक रिपोर्ट्स में छपे हैं। हमने यह ढूंढ़ने की कोशिश की कि पिछले 100 वर्षों में देश के विभिन्न हिस्से किस कदर प्रभावित हुए हैं। इसके लिए हमने जलवायु के कंप्यूटर मॉडल का सहारा लिया। नतीजे बताते हैं कि 1950 के दशक तक तो तापमान में कोई खास बदलाव नहीं दिखता, मगर उसके बाद से यह लगातार बढ़ता गया है। इस वृद्धि के मुख्य कारण ग्रीनहाउस गैसें रही हैं। वास्तव में, यदि एरोसोल और जमीनी सतह पर बदलाव (इन तमाम कारकों को 'अदर एंथ्रोपोजेनिक' यानी अन्य मानव गतिविधियों का नतीजा कहते हैं) न हुए होते, तो हम तापमान में कहीं ज्यादा वृद्धि का गवाह बनते। पिछले 50 वर्षों में भारत का औसत तापमान करीब 0.5 डिग्री सेल्सियस बढ़ा है। ग्रीनहाउस गैसों ने तो तापमान 1.7 डिग्री सेल्सियस बढ़ाया, पर 'अदर एंथ्रोपोजेनिक' कारकों ने इसमें करीब 1.2 डिग्री सेल्सियस की कमी कर दी।

अपने अध्ययन में हमने पाया कि देश के अलग-अलग हिस्सों में तापमान में वृद्धि एक समान नहीं हैं, और न ही इसकी वजहें समान हैं। मसलन, पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में ठंड के मौसम (दिसंबर-जनवरी-फरवरी) में तापमान में वृद्धि 1.7 डिग्री सेल्सियस हुई है। यहां ग्रीनहाउस गैसों की वजह से 3 डिग्री सेल्सियस गरमी बढ़ी और 'अदर एंथ्रोपोजेनिक' के कारण 1.5 डिग्री सेल्सियस कूलिंग हुई। पूर्वी तट पर भी ग्रीनहाउस गैसों की वजह से 1.7 डिग्री सेल्सियस तापमान बढ़ा और 'अदर एंथ्रोपोजेनिक' ने 1.2 डिग्री सेल्सियस घटाए, नतीजतन वार्षिक औसत तापमान में 0.5 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि हुई। पश्चिमी तट पर मानव गतिविधियों की वजह से तापमान 0.7 डिग्री सेल्सियस बढ़ा, तो अंतर-प्रायद्वीपीय में भी इन्हीं वजहों से 0.5 डिग्री सेल्सियस। हां, पूर्वोत्तर भारत और उत्तर-मध्य भारत में तापमान में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है, पर उत्तर-पश्चिम हिस्सा 0.5 डिग्री सेल्सियस वृद्धि का गवाह बना है। अध्ययन यह भी बताता है कि इन सब जगहों पर तापमान किन्हीं प्राकृतिक वजहों से नहीं, बल्कि मानव-गतिविधियों की वजह से बढ़े हैं।

सच यह भी है कि पश्चिमी हिमालय जैसे इलाकों में तापमान में काफी वृद्धि देखी गई है, जिस पर चिंता की जानी चाहिए। ये वे क्षेत्र हैं, जहां भारत की महान नदियों के अस्तित्व के लिए बर्फ का होना जरूरी है। तापमान बढ़ने से बर्फ तेजी से पिघलेगी और नदियों में जल-प्रवाह बढ़ने का कारण बनेगी। मैदानी इलाकों में बढ़ता तापमान भी चिंता का विषय होना चाहिए, क्योंकि इससे लू के थपेड़े तीखे होंगे और खेती पर संकट बढ़ेगा। बारिश पर इसका किस तरह असर पड़ेगा, फिलहाल यह आकलन नहीं किया गया है, पर मौसम में उथल-पुथल होगी, इतना तय है। हम ऐसे ही मौसमी बदलाव के गवाह बन रहे हैं।

THE HINDU

Date: 15-06-18

Decongesting Our Cities

It's time to modify regulation to accommodate app-based public transport services

O. P. Agarwal , [O.P. Agarwal is CEO, World Resources Institute India]

India has witnessed a rapid growth in the number of motor vehicles, from a mere 5.4 million in 1981 to 210 million in 2015. This furious pace of motorisation has led to severe traffic congestion and air pollution, adversely impacting the well-being of the people, the energy security of the country, and the economic efficiency of cities.

Ways to de-clog

Policies to deal with these problems have aimed at improving our public transport systems in the belief that this will enable people to shift from using personal vehicles. Public transport uses less road space, consumes less fuel and emits less pollutants on a per passenger basis. Hence, India has invested large amounts in high quality metro systems in cities such as Delhi, Bengaluru, Mumbai, Chennai, Hyderabad, Kochi, Jaipur and Lucknow. Several other cities are either building new metros or planning to. Bus systems have also been augmented at a high cost.

Unfortunately, congestion is far from gone and pollution is only getting worse in our cities. At this juncture, it is necessary to stop and look at where we have gone wrong and understand what needs to be done to correct this situation. Clearly, people who can afford cars and motorbikes are unwilling to compromise on the convenience of door-to-door travel, and the comfort of not having to jostle or hunt for seats in overcrowded buses or trains. If public transport could offer them these conveniences, commuting choices might just shift. After all, no one likes to drive on crowded streets and struggle to find parking at crowded destinations.

In this context, the emerging slew of shared mobility options and app-based ride providers become important. These new players have read the market well and offer the conveniences that commuters are looking for, from door-to-door services to on-demand availability. They allow commuters to travel

independently or share the ride with other passengers to save costs. There are a variety of vehicle types to suit individual trips and passenger preferences, ranging from two-wheelers and three-wheelers to cars of different sizes and mini-buses.

Unfortunately, services like the app-based mini-buses do not find favour with regulators. That they are neither "stage carriages" nor "contract carriages" under the Motor Vehicles Act makes it difficult for them to secure permits. Stage carriages are those that ply along fixed routes and stop at predetermined stations to pick up and drop passengers. Contract carriages are vehicles that serve a single customer or a group of customers, to be picked and dropped between two designated places. Unlike these vehicle types, new app-based services are flexible, the kind personal motor vehicle users are looking for to shift to more sustainable modes of transport.

Convenience as priority

There is a common belief that app-based services wean people away from public transport, and not personal motor vehicles, and so should not be allowed. This is not necessarily the case in India where bus users cannot afford anything priced higher than the bus. Metro rail users who shift to app-based services do so because last-mile connectivity to the metro is very poor and transfers between two lines are often cumbersome. Besides, during peak times, metros can get crowded.

It is for these reasons that personal motor vehicle users did not shift to metro travel to the extent anticipated, and instead shifted to app-based services. We must aim at leapfrogging with the help of these new services rather than shunning them for old models like 'stage' and 'contract' carriages. Clearly, these services are the need of the hour; Uber's worldwide growth is ample evidence of this. In India, innovations that offer such services on small and medium-sized buses are even more attractive as they offer convenience and are cost-effective.

Is it time then to modify regulation to accommodate app-based services, and hence ensure that they operate in a safe and equitable manner? For example, to safeguard investments in public transport and to ensure that app-based services don't compete with them on price, a floor price could be set for these services. This would mean that these services can charge more than a certain base price but not less.Developments in technology have given us new services that were not possible earlier. They are serving a public purpose and people are taking to them in a big way. They hold the potential to ease our congestion and air quality challenges. The regulation must, therefore, consider embracing technology-based services for the larger benefit, rather than fighting them.